# साधना और सेवा का सहसम्बन्ध

❑ डॉ. सागरमल जैन

**साधना और सेवा एक-दूसरे के अभिन्न अंग हैं। साधना तो है किंतु ग्लान-रुग्ण के प्रति सेवा की भावना नहीं है, तो वह साधक निकृष्ट है। वैसी साधना दम्भ है, पाखंड है। जैन, वैदिक और बौद्धधर्म में व्याप्त सेवा और साधना के संबंधों को परिभाषित कर रहे हैं – जैन दर्शन के उत्कृष्ट गवेषक-लेखक – डॉ. सागरमलजी जैन। – सम्पादक**

## साधना और सेवा : एक दूसरे के पूरक

**सामान्यतः** साधना व्यक्तिगत और सेवा समाजगत है। दूसरे शब्दों में साधना का सम्बन्ध व्यक्ति स्वयं से होता है अतः वह वैयक्तिक होती है, जबकि सेवा का सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियों से होता है। अतः उसे समाजगत कहा जाता है। इसी आधार पर कुछ विद्वानों की यह अवधारणा है कि साधना और सेवा एक-दूसरे से निरपेक्ष हैं। इनके बीच किसी प्रकार का सहसम्बन्ध नहीं है। किन्तु मेरी दृष्टि में साधना और सेवा को एक दूसरे से निरपेक्ष मानना उचित नहीं है, वे एक दूसरे की पूरक हैं, क्योंकि व्यक्ति अपने आप में केवल व्यक्ति ही नहीं है, वह समाज भी है। व्यक्ति के अभाव में समाज की परिकल्पना जिस प्रकार आधारहीन है, उसी प्रकार समाज के अभाव में व्यक्ति, विशेष रूप से मानव व्यक्ति, का भी कोई अस्तित्व नहीं है। क्योंकि न केवल मनुष्यों में, अपितु किसी सीमा तक पशुओं में भी एक सामाजिक व्यवस्था देखी जाती है। वैज्ञानिक अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि चींटी और मधुमक्खी जैसे क्षुद्र प्राणियों में भी एक सामाजिक व्यवस्था होती है। अतः यह सिद्ध है कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं है। यदि व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष हैं और उनके बीच कोई सहसम्बन्ध है, तो फिर हमें यह भी मानना होगा कि साधना और सेवा भी परस्पर सापेक्ष है और उनके बीच भी एक सहसम्बन्ध है। जैन दर्शन में व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति का चित्रण करते हुए स्पष्ट रूप से यह माना गया है कि पारस्परिक सहयोग प्राणीय प्रकृति है। इस सन्दर्भ में जैन दार्शनिक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र दिया है:-

**परस्परोपग्रहो जीवानाम्।**

– तत्त्वार्थ सूत्र - ५/२१

अर्थात् एक दूसरे का हित साधन करना प्राणियों की प्रकृति है। प्राणी जगत् में यह एक स्वाभाविक नियम है कि वे एक-दूसरे के सहयोग या सहकार के बिना जीवित नहीं रह सकते। दूसरे शब्दों में कहें तो जीवन का कार्य है जीवन जीने में एक दूसरे का सहयोगी बनना। जीवन एक-दूसरे के सहयोग से ही चलता है। अतः एक-दूसरे का सहयोग करना प्राणियों का स्वाभाविक धर्म है।

## व्यक्ति और समाज में अंग-अंगीय सम्बन्ध

कुछ विचारकों का विचार है कि व्यक्ति स्वभावतः स्वार्थी है, वह केवल अपना हित चाहता है, किन्तु यह एक भ्रान्त अवधारणा है। यदि व्यक्ति और समाज एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं है, तो हमें यह मानना होगा कि व्यक्ति के हित में ही समाज का हित और समाज के हित में ही व्यक्ति का हित समाया हुआ है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक कल्याण और वैयक्तिक कल्याण एक-दूसरे से पृथक् नहीं है। यदि व्यक्ति समाज का मूलभूत घटक है, तो हमें यह मानना होगा कि समाज-कल्याण में व्यक्ति का कल्याण निहित है। व्यक्तियों के अभाव में समाज एक अमूर्त कल्पना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। व्यक्ति से



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथक् होकर समाज की कोई सत्ता नहीं है। इसलिए सामाजिक कल्याण के नाम पर जो किया जाता है या होता है, उसका सीधा लाभ तो व्यक्ति को ही है। जैनधर्म-दर्शन की मूलभूत अवधारणा सापेक्षवाद की है। उसका यह स्पष्ट चिंतन है कि व्यक्ति के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति सम्भव ही नहीं है। व्यक्ति समाज की कृति है। उसका निर्माण समाज की कर्मशाला में ही होता है। हमारा वैयक्तिक विकास, सभ्यता एवं संस्कृति समाज का परिणाम है। पुनः समाज भी व्यक्तियों से ही निर्मित होता है। अतः व्यक्ति और समाज में अंग-अंगीय सम्बन्ध है। किन्तु यह सम्बन्ध ऐसा है जिसमें एक के अभाव में दूसरे की सत्ता नहीं रहती है। इस समस्त चर्चा से यही सिद्ध होता है कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे में अनुस्यूत है। एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती और यदि यह सत्य है तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सेवा और साधना में परस्पर सहसम्बन्ध है। आइए, इस प्रश्न पर और गम्भीरता से चर्चा करें।

## साधना सेवा से पृथक् नहीं

साधना और सेवा के इस सहसम्बन्ध की चर्चा में सर्वप्रथम हमें यह निश्चित करना होगा कि साधना का प्रयोजन/उद्देश्य क्या है? यह तो स्पष्ट है कि साधना वह प्रक्रिया है, जो साधक को साध्य से जोड़ती है। वह साध्य और साधक के बीच योजक कड़ी है। साधना साध्य के क्रियान्वयन की प्रक्रिया है। अतः बिना साध्य के उसका कोई अर्थ नहीं रह जाता है। साधना में साध्य ही प्रमुख तत्व है। अतः सबसे पहले हमें यह निर्धारित करना होगा कि साधना का वह साध्य क्या है, जिसके लिए साधना की जाती है। दार्शनिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति स्वरूपतः असीम या पूर्ण है, किन्तु उसकी यह तात्त्विक पूर्णता किन्हीं सीमाओं में सिमट गई है। असीम होकर भी उसने अपने को ससीम बना लिया है। जिस प्रकार मकड़ी स्वयं ही अपना जाल बुनकर उसी घेरे में सीमित हो जाती है या बंध जाती है, उसी प्रकार वैयक्तिक चेतना (आत्मा) आकांक्षाओं या ममत्व के घेरे में अपने को सीमित कर बंधन में आ जाती है। वस्तुतः सभी धर्मों और साधना पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य है व्यक्ति को ममत्व के इस संकुचित घेरे से निकालकर उसे पुनः अपनी अनन्तता या पूर्णता प्रदान करना है। दूसरे शब्दों में कहें तो सम्पूर्ण धर्मों और साधना पद्धतियों का उद्देश्य आकांक्षा और ममत्व के घेरे को तोड़कर अपने को पूर्णता की दिशा में आगे ले जाना है। जिस व्यक्ति का ममत्व का घेरा जितना संकुचित या सीमित होता है, वह उतना ही क्षुद्र होता है। इस ममत्व के घेरे को तोड़ने का सहजतम उपाय है, इसे अधिक से अधिक व्यापक बनाया जाए जो व्यक्ति केवल अपने दैहिक हित साधन का प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है, उसे निकृष्ट कोटि का व्यक्ति कहते हैं, ऐसा व्यक्ति स्वार्थी होता है। किन्तु, जो व्यक्ति अपनी दैहिक वासनाओं से ऊपर उठकर परिवार या समाज के कल्याण की दिशा में प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है, उसे उतना ही महान् कहा जाता है। वैयक्तिक हितों से पारिवारिक हित, पारिवारिक हितों से सामाजिक हित, सामाजिक हितों से राष्ट्रीय हित, राष्ट्रीय हितों से मानवीय हित और मानवीय हितों से प्राणी जगत् के हित श्रेष्ठ माने जाते हैं। जो व्यक्ति इनमें उच्च, उच्चतर और उच्चतम की दिशा में जितना आगे बढ़ता है, उसे उतना ही महान् कहा जाता है। किसी व्यक्ति की महानता की कसौटी यही है कि वह कितने व्यापक हितों के लिए कार्य करता है। वही साधक श्रेष्ठतम समझा जाता है, जो अपने जीवन को सम्पूर्ण प्राणी जगत् के हित के लिए समर्पित कर देता है। इस प्रकार साधना का अर्थ हुआ लोकमंगल या विश्वमंगल के लिए अपने आप को समर्पित कर देना। इस प्रकार साधना वैयक्तिक हितों से ऊपर उठकर प्राणि-जगत् के हित के लिए प्रयत्न या पुरुषार्थ करना है, तो वह सेवा से पृथक् नहीं है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## धर्म का अर्थ लोकमंगल

कोई भी धर्म या साधना पद्धति ऐसी नहीं है, जो व्यक्ति को अपने वैयक्तिक हितों या वैयक्तिक कल्याण तक सीमित रहने को कहती है। धर्म का अर्थ भी लोकमंगल की साधना ही है। गोस्वामी तुलसीदास ने धर्म की परिभाषा करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है –

**परहित सरिस धरम नहिं भाई।**
**पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।**

तुलसीदास जी द्वारा प्रतिपादित इसी तथ्य को प्राचीन आचार्यों ने **"परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीड़नम्"** अर्थात् परोपकार करना पुण्य या धर्म है और दूसरों को पीड़ा देना पाप है – कहकर परिभाषित किया था। पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म के बीच यदि कोई सर्वमान्य विभाजक रेखा है, तो वह व्यक्ति की लोकमंगल की या परहित की भावना ही है, जो दूसरों के हितों के लिए या समाज- कल्याण के लिए अपने हितों का सर्मपण करना जानता है, वही नैतिक है, वही धार्मिक है और वही पुण्यात्मा है। बौद्धधर्म में लोकमंगल को साधना का एक उच्च आदर्श माना गया था। बुद्ध ने अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया था – **"चरत्थ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय"**, अर्थात् हे भिक्षुओ! बहुजनों के हित के लिए और बहुजनों के सुख के लिए प्रयत्न करो। न केवल जैन धर्म, बौद्ध धर्म या हिन्दू धर्म की, अपितु इस्लाम और ईसाई धर्म की भी मूलभूत शिक्षा लोकमंगल या सामाजिक हित साधन ही रही है। इससे यही सिद्ध होता है कि सेवा और साधना दो पृथक्-पृथक् तथ्य नहीं हैं। सेवा में साधना और साधना में सेवा समाहित है। यही कारण था कि वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने भी दरिद्रनारायण की सेवा को ही सबसे बड़ा धर्म या कर्तव्य कहा।

## सेवा श्रेष्ठ है !

**जो लोग साधना को जप, तप, पूजा, उपासना या नाम स्मरण तक सीमित मान लेते हैं, वे वस्तुतः एक भ्रान्ति में ही हैं। प्रश्न प्रत्येक धर्म साधना पद्धति में उठा है कि वैयक्तिक साधना अर्थात् जप, तप, ध्यान तथा प्रभु की पूजा-उपासना और सेवा में कौन श्रेष्ठ है? जैन परम्परा में भगवान् महावीर से यह पूछा गया कि एक व्यक्ति आपकी पूजा-उपासना या नाम स्मरण में लगा हुआ है और दूसरा ग्लान एवं रोगी की सेवा में लगा हुआ है इनमें कौन श्रेष्ठ है? प्रत्युत्तर में भगवान् महावीर ने कहा था कि जो रोगी एवं ग्लान की सेवा करता है, वही श्रेष्ठ है, क्योंकि वही मेरी आज्ञा का पालन करता है।**[१] **इसका तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक जप, तप, पूजा और उपासना की अपेक्षा जैन धर्म में भी संघ-सेवा को अधिक महत्व दिया गया।** उसमें संघ या समाज का स्थान प्रभु से भी ऊपर है, क्योंकि तीर्थंकर भी प्रवचन के पूर्व **'नमो तित्थस्स'** कहकर संघ को वंदन करता है। संघ के हितों की उपेक्षा करना सबसे बड़ा अपराध माना गया था। जब आचार्य भद्रबाहु ने अपनी ध्यान साधना में विघ्न आएगा, यह समझकर अध्ययन करवाने से इन्कार किया, तो संघ ने उनसे यही प्रश्न किया था कि संघहित और आपकी वैयक्तिक साधना में कौन श्रेष्ठ है और अन्ततोगत्वा उन्हें संघहित को प्राथमिकता देना पड़ी। यही बात प्रकारान्तर से हिन्दू धर्म में भी कही गई है। उसमें कहा गया है कि वे व्यक्ति जो दूसरों की सेवा छोड़कर केवल प्रभु का नाम स्मरण करते रहते हैं, वे भगवान् के सच्चे उपासक नहीं हैं।[२]

इस प्रकार इस समस्त चर्चा से यह फलित होता है कि सेवा ही सच्चा धर्म है और यही सच्ची साधना है। यही कारण है कि जैन धर्म में तप के जो विभिन्न प्रकार बताए गये हैं, उनमें वैयावृत्य (सेवा) को एक महत्वपूर्ण आभ्यन्तर तप माना गया है। तप में सेवा का अन्तर्भाव

१. आवश्यकवृत्ति पृ. ६६१-६६२

२. भगवद्गीता (राधाकृष्णन) पृ. ७१ भूमिका



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही सूचित करता है कि सेवा और साधना अभिन्न हैं। मात्र यही नहीं जैन परम्परा में तीर्थंकर पद, जो साधना का सर्वोच्च साध्य है, की प्राप्ति के लिए जिन १६ या २० उपायों की चर्चा की गई है, उनमें सेवा को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।

**निष्काम सेवा ही साधना है !**

गीता में भी लोकमंगल को भूतयज्ञ (प्राणियों की सेवा) का नाम देकर यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।[१] इस प्रकार जो यज्ञ पहले वैयक्तिक हितों की पूर्ति के लिए किये जाते थे, उन्हें गीता ने मानव सेवा से जोड़कर एक महत्वपूर्ण क्रान्ति की थी। धर्म का एक अर्थ दायित्व या कर्त्तव्य का परिपालन भी है। कर्त्तव्यों या दायित्वों को दो भागो में विभाजित किया जाता है – एक वे जो स्वयं के प्रति होते हैं और दूसरे वे जो दूसरे के प्रति होते हैं। यह ठीक है कि व्यक्ति को अपने जीवन रक्षण और अस्तित्व के लिए भी कुछ करना होता है, किन्तु इसके साथ-साथ ही परिवार, समाज, राष्ट्र या मानवता के प्रति भी उसके कुछ कर्त्तव्य होते हैं। व्यक्ति के स्वयं के प्रति जो दायित्व है, वे ही दूसरे की दृष्टि से उसके अधिकार कहे जाते हैं और दूसरों के प्रति उसके जो दायित्व हैं, वे उसके कर्त्तव्य कहे जाते हैं। वैसे तो अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर सापेक्ष ही हैं। जो मेरा अधिकार है, वही दूसरों के लिए मेरे प्रति कर्त्तव्य हैं। दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का परिपालन ही सेवा है। जब यह सेवा बिना प्रतिफल की आकांक्षा के की जाती है तो यही साधना बन जाती है। इस प्रकार सेवा और साधना अलग-अलग तथ्य नहीं रह जाते हैं। सेवा साधना है और साधना धर्म है। अतः सेवा, साधना और धर्म एक दूसरे के पर्यायवाची हैं।

सामान्यतयः साधना का लक्ष्य मुक्ति माना जाता है और मुक्ति वैयक्तिक होती है। अतः कुछ विचारक सेवा और साधना में किसी प्रकार के सहसम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार वैयक्तिक मुक्ति के लिए किए गए प्रयत्न ही साधना हैं और ऐसी साधना का सेवा से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु, भारतीय चिन्तकों ने इस प्रकार की वैयक्तिक मुक्ति को उचित नहीं माना है। जहाँ तक वैयक्तिकता या मैं है, अहंकार है और जब तक अहंकार है, मुक्ति सम्भव नहीं है। जब तक मैं या मेरा है, राग है और राग मुक्ति में बाधक है।

**पर-पीड़ा-स्व-पीड़ा**

वस्तुतः भारतीय दर्शनों में साधना का परिपाक सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि के विकास में माना गया है। गीता में कहा गया है कि जो सभी प्राणियों को आत्मा के रूप में देखता है, वही सच्चे अर्थ में द्रष्टा है और वही साधक है। जब व्यक्ति के जीवन में इस आत्मवत् दृष्टि का विकास होता है, तो दूसरों की पीड़ा भी उसे अपनी पीड़ा लगने लगती है। इस पर दुःख कातरता को साधना की उच्चतम स्थिति माना गया है। रामकृष्ण परमहंस जैसे उच्चकोटि के साधकों के लिए यह कहा जाता है कि उन्हें दूसरों की पीड़ा अपनी पीड़ा लगती थी। जो साधक साधना की इस उच्चतम स्थिति में पहुँच जाता है और दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझने लगता है, उसके लिए वैयक्तिक मुक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद ने स्पष्ट रूप से कहा था –

*प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः।*
*मौनं चरन्ति विजने न तु परार्थनिष्ठाः।।*
*नेतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेकः।।*

"– प्रायः कुछ मुनिगण अपनी मुक्ति के लिए वन में अपनी चर्या करते हैं और मौन धारण करते हैं, लेकिन उनमें परार्थ निष्ठा नहीं है। मैं तो सब दुःखीजनों को छोड़कर अकेला मुक्त नहीं होना चाहता।"

१. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग – २ पृ.१४६



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों को पीड़ा से कराहता देखकर केवल अपनी मुक्ति की कामना करता है, वह निकृष्ट कोटि का है। अरे और तो क्या, स्वयं परमात्मा भी दूसरों की पीड़ाओं को दूर करने के लिए ही संसार में जन्म धारण करते हैं। हिन्दू परम्परा में जो अवतार की अवधारणा है उसमें अवतार का उद्देश्य यही माना गया है कि वे सत्पुरुषों के परित्राण के लिए ही जन्म धारण करते हैं। जब परमात्मा भी दूसरों के दुःख को दूर करने के लिए संसार में अवतरित होते हैं, तो फिर यह कैसे माना जा सकता है कि दूसरों को दुःख और पीड़ाओं में तड़पता देखकर केवल अपनी मुक्ति की कामना करने वाला साधक उच्चकोटि का साधक है। बौद्ध परम्परा में आचार्य शान्तिरक्षित ने बोधिचर्यावतार में कहा है कि दूसरों को दुःख और पीड़ाओं में तड़पते देखकर केवल अपने निर्वाण की कामना करना कहाँ तक उचित है? अरे, दूसरों के दुःखों को दूर करने में जो सुख मिलता है वह क्या कम है, जो केवल स्वयं विमुक्ति की कामना की जाए?

## लोकमंगल हेतु धर्मचक्र का प्रवर्तन

बौद्ध परम्परा में महायान सम्प्रदाय में बोधिसत्व का आदर्श सभी के दुःखों की विमुक्ति होता है। वह अपने वैयक्तिक निर्वाण को भी अस्वीकार कर देता है, जब तक संसार के सभी प्राणियों के दुःख समाप्त होकर उन्हें निर्वाण की प्राप्ति न हो। **जैन परम्परा में भी तीर्थंकर को लोक कल्याण का आदर्श माना गया है। उसमें कहा गया है कि समस्त लोक की पीड़ा को जानकर तीर्थंकर धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं। यह स्पष्ट है कि कैवल्य की प्राप्ति के पश्चात् तीर्थंकर के लिए कुछ भी करणीय शेष नहीं रहता है, वे कृत-कृत्य होते हैं। फिर भी लोकमंगल के लिए ही वे धर्मचक्र का प्रवर्तन करके अपना शेष जीवन लोकहित में समर्पित कर देते हैं।** यही भारतीय दर्शन और साहित्य का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है। इसी प्रकार बोधिसत्व भी सदैव ही दीन और दुःखी जनों को दुःख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अभिलाषा करता है और सबको मुक्त कराने के पश्चात् ही मुक्त होना चाहता है।

- *भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः।*

वस्तुतः मोक्ष अकेला पाने की वस्तु ही नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य विनोबा भावे के उद्‌गार विचारणीय हैं –

**"जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने की वस्तु है, वह उसके हाथ से निकल जाता है। 'मैं' के आते ही मोक्ष भाग जाता है। मेरा मोक्ष – यह वाक्य ही गलत है। *'मेरा'* मिटने पर ही मोक्ष मिलता है।"**

इसी प्रकार अहंकार से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। 'मैं' अथवा अहं भाव से मुक्त होने के लिए हमें अपने आपको समष्टि में, समाज में लीन कर देना होता है। मुक्ति वही प्राप्त कर सकता है जो कि अपने व्यक्तित्व को समष्टि में, समाज में विलीन कर दे। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं:-

*सर्वत्यागश्च निर्वाण निर्वाणार्थि च मे मनः।*
*त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयताम्।।*

**इस प्रकार यह धारणा कि मोक्ष का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, गलत है। मोक्ष वस्तुतः दुःखों से मुक्ति है और मनुष्य जीवन के अधिकांश दुःख, मानवीय संवेगों के कारण ही हैं। अतः मुक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि के संवेगों से मुक्ति पाने में है और इस रूप में वह वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से उपादेय भी है। दुःख, अंहकार एवं मानसिक क्लेशों से मुक्ति रूप में मोक्ष की उपादेयता और सार्थकता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता।**

अन्त में, कह सकते हैं कि भारतीय जीवन दर्शन की दृष्टि पूर्णतः सामाजिक और लोकमंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है। उसकी एकमात्र मंगल कामना है:-



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु। सर्वे सन्तु निरामयाः।*
*सर्वे भद्राणि पश्यन्तु। मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।।*

**परम करुणा !**

कुछ लोग अहिंसा की अवधारणा को स्वीकार करके भी उसकी मात्र नकारात्मक अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि अंहिसा का अर्थ है दूसरों को पीड़ा नहीं देना। अतः व्यक्ति की साधना केवल दूसरों को पीड़ा नहीं देने तक सीमित है। दूसरों के दुःख और पीड़ा को दूर करना उनकी दृष्टि में व्यक्ति का दायित्व नहीं है। किन्तु यह अहिंसा की एकांगी व्याख्या है। अंहिसा का एक सकारात्मक पहलू भी है, जो हमें दूसरों के दुःख और पीड़ाओं को दूर करने का दायित्व बोध कराता है। **वस्तुतः जब तक दूसरों के दुःख और पीड़ा को अपना दुःख और पीड़ा मानकर उसके निराकरण का प्रयत्न नहीं होता है, तब तक करुणा का चरम विकास सम्भव नहीं है। यदि व्यक्ति दूसरे को दुःख और पीड़ा में तड़पता देखकर उसके निराकरण का कोई प्रयत्न नहीं करता, तो यह कहना कठिन है कि उसके हृदय में करुणा का विकास हुआ है और जब तक करुणा का विकास नहीं होता, तब तक अंहिसा का परिपालन सम्भव नहीं है। परमकारुणिक व्यक्ति ही अहिंसक हो सकता है। जिनका हृदय दूसरों को दुःख और पीड़ा में तड़पता देखकर भी निष्क्रिय बना रहे, उसे हम किस अर्थ में अहिंसक कहेंगे?**

**सेवा : साधना का एक अंग**

समाज को एक आंगिक संरचना माना गया है। शरीर में हम स्वाभाविक रूप से यह प्रक्रिया देखते हैं कि किसी अंग की पीड़ा को देखकर दूसरा अंग उसकी सहायता के लिए तत्काल आगे आता है। शरीर का कोई भी अंग दूसरे अंग की पीड़ा में निष्क्रिय नहीं रहता। तो फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि समाज रूपी शरीर में व्यक्ति रूपी अंग दूसरे अंग की पीड़ा में निष्क्रिय बना रहे। अतः हमें यह मानकर चलना होगा कि अहिंसा मात्र नकारात्मक नहीं है। उसमें करुणा और सेवा का सकारात्मक पक्ष भी जुड़ा हुआ है। वस्तुतः सेवा अहिंसा का सकारात्मक पहलू ही है। यदि हम अहिंसा को साधना का आवश्यक अंग मानते हैं, तो हमें सेवा को भी साधना के एक अंग के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा और इससे यही सिद्ध होता है कि सेवा और साधना में सहसम्बन्ध है। सेवा के अभाव में साधना सम्भव नहीं है। पुनः जहाँ सेवा है, वहाँ साधना है ही। वस्तुतः वे व्यक्ति ही महान् साधक हैं, जो लोकमंगल के लिए अपने को समर्पित कर देते हैं। उनका निष्काम समर्पण भाव साधना का सर्वोत्कृष्ट रूप है।•••

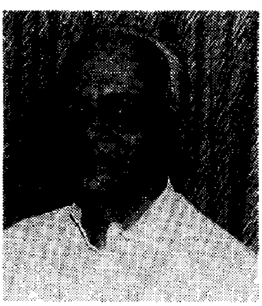

**❑ प्रोफेसर श्री सागरमल जी जैन का जन्म ताः २२ फरवरी सन् १९३२ में शाजापुर (म.प्र.) में हुआ। आपने एम.ए.एवं साहित्यरत्न की परीक्षाएं श्रेष्ठ अंकों से उत्तीर्ण कीं। आप इंदौर, रीवाँ, भोपाल और ग्वालियर के महाविद्यालयों में दर्शन शास्त्र के प्रवक्ता, आचार्य एवं विभागाध्यक्ष रहे। सन् १९७९ से १९९९ तक आप पार्श्वनाथ विद्यापीठ शोध संस्थान, वाराणसी के निदेशक रहे। भारत और विदेशों में आपने अनेक व्याख्यान दिए। ओजस्वी वक्ता, लेखक, समालोचक के रूप में सुविख्यात डा. जैन ने जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का विशेष अध्ययन किया। आपने बीस से अधिक शोधपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। आपके सैकड़ों शोधपूर्ण निबंध अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। "श्रमण" के प्रधान संपादक। आपके निर्देशन में तीस छात्रों ने पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। जैन विद्या के शीर्षस्थ विद्वान्। अनेक शैक्षणिक, सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाओं के पदाधिकारी। — सम्पादक**



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org